दंसण मूलो धम्मो

आत्मधर्म

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

वर्ष नववाँ
अंक पहला

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी वकील

प्रथम वैशाख
२४७९

आत्मकार्य

अरे जीव!

जीवन का एक-एक क्षण लाखों का जा रहा है; तू जाग... जाग... जाग! जागृत होकर अपने आत्मकार्य को शीघ्र ही संभाल! अपनी परमात्मशक्ति की प्रतीति करके अपने आत्मिक शौर्य को उछाल! तेरा आत्मा पुरुषार्थहीन या तुच्छ नहीं है, परन्तु सिद्ध परमात्मा जैसा पूर्ण सामर्थ्यवान प्रभु है; इसलिये उस पूर्णता के लक्ष से अपने आत्मवीर्य को उछाल! अपने स्वभाव का विश्वास करके उस ओर का उल्लास कर, तो आत्मकार्य के लिये तेरा जीवन सफल हो!

[—चर्चा से]

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

१७

एक अंक
चार आना

जैन स्वाध्याय मन्दिर : सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

श्री जैनदर्शन-शिक्षणवर्ग

सोनगढ़ में प्रतिवर्ष की भाँति इस वर्ष भी गर्मी की छुट्टियों में द्वितीय वैशाख कृष्णा १३, सोमवार ता. ११-५-५३ से प्रारम्भ करके, ज्येष्ठ कृष्णा पंचमी, मंगलवार ता. २-६-५३ तक जैन विद्यार्थियों को जैनदर्शन के अभ्यास के लिये शिक्षणवर्ग खोला जायेगा। विद्यार्थियों के उपरांत अन्य जिज्ञासु जैनबंधु भी इस वर्ग का लाभ उठा सकेंगे। वर्ग में सम्मिलित होने वालों के लिये रहने तथा भोजन की व्यवस्था जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट की ओर से होगी। वर्ग समाप्त होने पर परीक्षा ली जायेगी और योग्यतानुसार प्रमाण-पत्र दिये जायेंगे। जिन विद्यार्थियों ने गत वर्षों में परीक्षा देकर प्रमाण-पत्र प्राप्त किये हों, वे अपने प्रमाण-पत्र साथ लावें—ताकि उससे ऊपर की श्रेणी में बैठकर अभ्यास का लाभ ले सकें।

जिन भाइयों की शिक्षणवर्ग में सम्मिलित होने की इच्छा हो, वे आने से पूर्व सूचित करें और समय पर उपस्थित हो जावें।

—श्री जैन स्वाध्यायमंदिर

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

आत्मधर्म

प्रथम वैशाख : २४७९ ☆ वर्ष नववाँ ☆ अंक पहला

अनेकान्तमूर्ति भगवान आत्मा की कुछ शक्तियाँ

[७]

प्रभुत्वशक्ति

आत्मा की प्रभुता का अद्भुत वर्णन

आत्मा अनंतधर्मस्वरूप है; 'ज्ञानमात्र' कहकर उसकी पहचान कराई है, इसलिये एकान्त नहीं हो जाता; क्योंकि ज्ञानमात्र भाव परिणमित होने से उसके साथ अनंत धर्मों का परिणमन साथ ही उछलता है, इसलिये ज्ञानमात्र भाव को अनेकान्तपना है। यहाँ ज्ञानमात्र भाव के साथ विद्यमान धर्मों का वर्णन चलता है।

आत्मा में 'प्रभुत्व' नाम की एक शक्ति है; इसलिये अखण्डित् प्रतापवाली स्वतंत्रता से आत्मा सदैव शोभायमान है। जिसका प्रताप अखण्डित है अर्थात् जिसे कोई खण्डित नहीं कर सकता—ऐसे स्वातंत्र्य से (स्वाधीनता से) शोभायमानपना जिसका लक्षण है-ऐसी प्रभुत्वशक्ति आत्मा में त्रिकाल है। जिसप्रकार आत्मा में ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, जीवन इत्यादि शक्तियाँ हैं, उसीप्रकार यह प्रभुत्वशक्ति भी है। आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों में प्रभुता विद्यमान हैं। आत्मा में कहीं भी पामरता नहीं है किन्तु प्रभुता है; द्रव्य में प्रभुत्व है, ज्ञानादि अनंतगुणों में प्रभुत्व है और

पर्याय में भी प्रभुत्व है। द्रव्य-गुण और पर्याय तीनों की स्वतंत्रता से आत्मा शोभायमान है। आत्मा के द्रव्य की, गुण की और पर्याय की प्रभुता के प्रताप को खण्डित करने में कोई समर्थ नहीं है। किसी निमित्तादि परवस्तु से या पुण्य से आत्मा शोभित नहीं है परन्तु अपनी अखण्ड प्रभुता से ही आत्मा शोभायमान हैं। जितने प्रभु हुए हैं, वे सब अपने आत्मा की प्रभुता को जान-जानकर ही हुए हैं; प्रभुता कहीं बाह्य से नहीं आयी है। पामरता में से प्रभुता नहीं आती, परन्तु आत्मस्वभाव त्रिकाल प्रभुता का पिण्ड है, उसी में से प्रभुता आती है, इसलिये प्रथम अपनी प्रभुता का विश्वास करो।

इस बार (वीर सं० २४७५ के) सुप्रभात-मंगल में इस प्रभुत्वशक्ति का वर्णन आया था। नूतन वर्ष के प्रारम्भ में लोग शरीर, मकान आदि की बाह्य शोभा करते हैं; परन्तु यहाँ तो अन्तर में आत्मा की शोभा की बात है। गृह आदि की शोभा में आत्मा की शोभा नहीं है, परन्तु अपनी प्रभुत्वशक्ति से ही आत्मा की अखण्ड शोभा है; आत्मा का प्रताप अखण्ड है।

चैतन्यभगवान अखण्ड प्रताप से स्वतंत्ररूप से शोभायमान है; जगत के कोई निमित्त या प्रतिकूल संयोग उसकी शोभा को हानि नहीं पहुँचा सकते और कोई अनुकूल संयोग उसकी शोभा में सहायक नहीं हैं; वह स्वयं अपने अखण्डित प्रताप से शोभायमान हैं; ऐसी प्रभुता आत्मा में त्रिकाल है। द्रव्य में प्रभुता है, गुण में प्रभुता है और पर्याय में भी प्रभुता है। द्रव्य-गुण की प्रभुता के स्वीकार से पर्याय में भी प्रभुता प्रगट हो गई है।

द्रव्यदृष्टि से देखने पर आत्मा की प्रभुता में कभी विकार हुआ ही नहीं। पर्याय में एक-एक समय का विकार करते-करते अभी तक का चाहे जितना काल व्यतीत हुआ और चाहे जितनी मलिनता हुई, परन्तु द्रव्य की प्रभुता को तोड़ने में वे कोई समर्थ नहीं है। द्रव्य की प्रभुता तो अखण्डरूप से ज्यों की त्यों शोभायमान है, उसमें अंशमात्र खण्ड नहीं पड़ा है; और गुण की प्रभुता भी ज्यों की त्यों अखण्डित है; तथा प्रत्येक समय की पर्याय भी पर की अपेक्षारहित, स्वाश्रय से स्वतंत्ररूप से शोभायमान है। इन द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों की प्रभुता जयवंत प्रवर्तमान है। प्रभ्भुत्वशक्ति आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों में व्याप्त हो रही है, इसलिये आत्मा स्वयं प्रभु है।

"हे प्रभु! आपकी प्रभुता का कैसे वर्णन करूँ!"—इसप्रकार दूसरों को अपना प्रभु कहना, वह विनय से व्यवहार का कथन है; वास्तव में इस आत्मा का प्रभु अन्य कोई नहीं है; स्वयं ही अपनी प्रभुत्वशक्ति का स्वामी है; स्वतंत्रता के अखण्ड प्रताप से स्वयं शोभायमान है, इसलिये स्वयं ही अपना प्रभु है। आत्मा की प्रभुता का प्रताप ऐसा अखण्डित है कि अनंत अनुकूल या प्रतिकूल

परिषह आयें, तथापि उसका प्रताप खण्डित नहीं होता। अरे! क्षणिक पुण्य-पाप की वृत्ति से भी उसकी प्रभुता का प्रताप खण्डित नहीं होता; क्योंकि आत्मा की प्रभुत्वशक्ति तो द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों में व्यापक है और त्रिकाल है; विकार कहीं, द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों में व्याप्त नहीं होता और न वह त्रिकाल है; इसलिये उस क्षणिक विकार के द्वारा भी आत्मा की प्रभुता खण्डित नहीं होती। आत्मा की ऐसी प्रभुता है, वह द्रव्यदृष्टि का विषय है। ऐसी आत्मा की प्रभुता जिसको जम गई है, उसे पर्याय में केवलज्ञानरूपी प्रभुता अवश्य प्रगट होती है।

धर्मी जानता है कि मेरी प्रभुता मुझमें है, अपनी प्रभुता से ही मेरी शोभा है। मेरी प्रभुता का प्रताप ऐसा अखण्डित है कि तीन लोक में कोई द्रव्य-गुण-पर्याय मेरे द्रव्य-गुण-पर्याय की स्वतंत्रता की शोभा को लूटनेवाला नहीं है। मेरा प्रभुत्व अनादि-अनंत है; मैं अपनी अखण्ड स्वतंत्रता के प्रताप से शोभित हूँ; मेरे प्रत्येक गुण में भी प्रभुत्व है। ज्ञान में जानने का ऐसा प्रभुत्व है कि एक समय में तीन काल-तीन लोक को जान लें; श्रद्धा में प्रतीति का ऐसा प्रभुत्व है कि एक क्षण में परिपूर्ण परमात्मा को प्रतीति में ले सकती है; दर्शन में देखने का प्रभुत्व है; आनंद में आह्लाद का प्रभुत्व है।—इसप्रकार श्रद्धा-ज्ञान-आनंदादि गुण अपने अखण्ड प्रताप से शोभायमान है। द्रव्य-गुण की भाँति प्रत्येक समय की पर्याय में भी मेरी प्रभुता है। पर्याय में जो अल्प राग-द्वेष होते हैं, वे गौण हैं; उनका त्रिकाली आत्मस्वरूप में अभाव है। आत्मा की प्रभुता कभी अपूर्ण या पराश्रित हुई ही नहीं है; वह तो त्रिकाल अबाधित है; उसका स्वाधीन प्रताप अखण्ड है। विकार में तो प्रभुत्व ही नहीं है; क्योंकि वह त्रिकाली द्रव्य-गुण में या समस्त पर्यायों में व्याप्त नहीं होता। आत्मा की प्रभुता तो त्रिकाली द्रव्य-गुण में और समस्त पर्यायों में व्याप्त होनेवाली है।

जिन्हें अपनी चैतन्यप्रभुता का भान नहीं है—ऐसे अज्ञानी जीव, परसंयोग से अपना बड़प्पन मानते हैं और वे संयोग प्राप्त करने को भावना करते हैं। ऋद्धि-सिद्धि प्राप्त हो और शरीर स्वस्थ रहे—ऐसी बाह्य पदार्थों की भावना अज्ञानी करते हैं; परन्तु स्वयं अपने स्वभाव की ऋद्धि-सिद्धि और प्रभुता से परिपूर्ण हैं, उसकी पहिचान और भावना नहीं करते। जिसने अपने सुख के लिए परवस्तु की आवश्यकता मानी है, उसने अपने आत्मा की प्रभुता को स्वीकार नहीं किया है किन्तु पामरता का स्वीकार किया है; इसलिये उसके पर्याय में प्रभुता प्रगट नहीं होती। यहाँ तो कहते हैं कि त्रिकाली प्रभुता के स्वीकार से पर्याय में जो प्रभुता प्रगट हुई, उसके प्रताप को खण्डित करने के लिये जगत में कोई क्षेत्र, कोई काल और कोई संयोग समर्थ नहीं है।

श्रद्धा की प्रत्येक समय की पर्याय में ऐसी शक्ति है कि वह परिपूर्ण द्रव्य को प्रतीति में ले लेती है। श्रद्धा-ज्ञान-आनंदादि गुणों की प्रत्येक पर्याय ने द्रव्य की अखंडता को बना रखा है। यदि ज्ञानादि किसी भी गुण की एक ही पर्याय निकाल दें तो गुण का अनादि-अनंत अखण्डपना नहीं रहता; और गुण अखण्ड न रहने से द्रव्य भी अखण्ड नहीं रहता; इसलिये प्रत्येक पर्याय में भी प्रभुत्व है। द्रव्य, अनंत गुणों का पिण्ड है और गुण, अनंत पर्यायों का पिण्ड है; इसलिये द्रव्य की प्रभुता अपने समस्त गुणों में और समस्त पर्यायों में विस्तृत है; वे सब स्वतंत्रता से शोभायमान हैं। आत्मा की अनंत शक्तियों में से यदि एक भी शक्ति को निकाल दें तो द्रव्य की प्रभुता खण्डित हो जाती है; और ज्ञान-दर्शन-अस्तित्वादि किसी एक गुण की एक समय की अवस्था को निकाल दें तो भी गुण अनादि-अनंत अखण्ड नहीं रहता परन्तु खण्डित हो जाता है। यहाँ प्रत्येक समय की पर्याय की भी प्रभुता सिद्ध होती है।

पर्याय एक समय की है, इसलिये उसे तुच्छ-असत् माने और उसकी स्वतंत्र प्रभुता को स्वीकार न करे तो पर्याय की प्रभुता के बिना द्रव्य की अखण्ड प्रभुता ही सिद्ध नहीं होगी। जैसे, किसी मनुष्य की उम्र १०० वर्ष की हो, उसके १०० वर्षों में से यदि एक समय को भी निकाल दें तो उसका १०० वर्ष का अखण्डपना नहीं रहता; किन्तु एक ओर ५० और दूसरी ओर ५० वर्ष में एक समय कम—ऐसे दो खण्ड हो जाते हैं। उसी प्रकार यदि द्रव्य की एक भी पर्याय की सत्ता को निकाल दें तो द्रव्य का प्रताप खण्डित हो जाता है; पर्याय के बिना पूर्ण द्रव्य ही सिद्ध नहीं हो सकता। इसप्रकार द्रव्य की प्रत्येक पर्याय में भी अखण्ड प्रताप है।—ऐसी आत्मा की प्रभुत्वशक्ति है।

आत्मा की प्रभुता असंख्य प्रदेशों में व्याप्त है। जिसप्रकार प्रत्येक पर्याय में प्रभुता है, उसीप्रकार प्रत्येक प्रदेश में भी प्रभुता है। प्रदेश-प्रदेश में प्रभुता भरी है। अनादि-अनंत एक प्रदेश दूसरे प्रदेशरूप नहीं होता; वह अन्य अनंत जीवों के अनंत प्रदेशों से भिन्न अपना स्वाधीन अस्तित्व बना रखता है—ऐसी प्रदेश की प्रभुता है। आत्मा में पर्याय की प्रभुता और प्रदेश की प्रभुता में इतना अंतर है कि एक पर्याय तो आत्मा के सर्व क्षेत्र में—समस्त प्रदेशों में व्यापक है; परन्तु एक प्रदेश सर्व प्रदेशों में व्यापक नहीं है। पर्याय सर्व प्रदेश में व्यापक है परन्तु वह एक समयपर्यंत की है; और एक प्रदेश सर्व प्रदेशों में व्यापक न होने पर भी वह त्रिकाल है। क्षेत्र भले ही छोटा हो, तथापि उसमें भी प्रभुता है, और पर्याय का काल भले अल्प हो, तथापि उसमें भी प्रभुता है। भगवान आत्मा का

कोई अंश प्रभुता से खाली नहीं है। यदि अपने आत्मा की ऐसी अखण्ड प्रभुता को जाने तो किसी परवस्तु को प्रभुत्व न दे अर्थात् पराश्रय न करे। पराश्रय को छोड़कर अपनी प्रभुता का आश्रय करे, उसका नाम धर्म है और वही मुक्ति का उपाय है। आत्मा की प्रभुता के स्वीकार में स्वाश्रय का स्वीकार है और स्वाश्रय के स्वीकार में मुक्ति है। यदि किन्हीं निमित्त, संयोगादि पर के आश्रय से लाभ माने तो अपनी प्रभुता की प्रतीति नहीं रहती; और पर्याय में होनेवाले अल्प विकार को प्रभुत्व दे दे, तो भी अपनी प्रभुता की प्रतीति नहीं रहती। आत्मा की प्रभुता विकार और संयोगरहित अनंत गुणों से अखण्ड है।

अज्ञानी कहता है कि द्रव्य-गुण में तो स्वतंत्र प्रभुता है, किन्तु पर्याय पर के आश्रय से होती है। जिसने पर्याय का होना पर के आश्रय से माना है, उसने वास्तव में द्रव्य-गुण की स्वाधीन प्रभुता को भी नहीं जाना है। जहाँ द्रव्य-गुण की प्रभुता को स्वीकार किया, वहाँ पर्याय भी द्रव्य-गुण की ओर उन्मुख हो गई और उसमें भी प्रभुता हो गई; इसप्रकार द्रव्य-गुण की ओर उन्मुख हुए बिना द्रव्य-गुण की प्रभुता को भी वास्तव में स्वीकार किया नहीं कहा जा सकता। यदि वास्तव में द्रव्य-गुण की प्रभुता का स्वीकार करे तो पर्याय की वृत्ति पराश्रय से छूटकर अन्तर्मुख हुए बिना न रहे। जिसप्रकार त्रिकाली द्रव्य-गुण सत्-अहेतुक है, उसीप्रकार एक-एक समय की पर्याय भी सत्-अहेतुक है। पर्याय का कारण परवस्तुएँ नहीं हैं। उसीप्रकार यदि पर्याय का कारण द्रव्य-गुण को कहा जाये तो वे द्रव्य-गुण तो समस्त जीवों के समान हैं, तथापि पर्याय में क्यों अन्तर पड़ता है? इसलिये प्रत्येक पर्याय में अपनी अकारणीय प्रभुता है। पर्याय की ऐसी निरपेक्षता स्वीकार करने से पर्याय का निर्मल परिणमन ही होता जाता है; क्योंकि निरपेक्षता स्वीकार करनेवाली पर्याय स्व-द्रव्य की ओर उन्मुख है। अहो! द्रव्य का प्रत्येक अंश स्वतंत्र है, एक अंश भी पराधीन नहीं है। ऐसी प्रतीति करनेवाले की स्वभावाश्रित निर्मल परिणमन ही हो रहा है।

प्रभुत्वशक्ति ने पूर्ण आत्मा को प्रभुता दी है; मात्र प्रभुत्वगुण में ही प्रभुता है-ऐसा नहीं है; परन्तु सम्पूर्ण द्रव्य में, उसके समस्त गुणों में और प्रत्येक पर्याय में प्रभुता है।—ऐसी प्रभुता को जानने से जीव अपने अनंत प्रभुत्व को प्राप्त करता है। ऐसी अपनी प्रभुता का श्रवण-मनन करके उसकी महिमा, रुचि और उसमें लीनता करना, वह अपूर्व मंगल है।

सम्यक्श्रद्धा ने पूर्ण आत्मा की प्रभुता की प्रतीति की है; पर्याय की प्रभुता ने पूर्ण द्रव्य की प्रभुता का स्वीकार किया है। अब उस द्रव्य के ही लक्ष से एकाग्र होकर पूर्ण केवलज्ञानरूपी प्रभुता

होगी। उस प्रभुता के अप्रतिहतभाव में बीच में कोई विघ्नकर्ता इस जगत में नहीं है।

आत्मा की प्रभुता कितनी होगी ?—क्या मेरु पर्वत जितनी होगी ? तो कहते हैं कि नहीं; मेरु की उपमा तो उसे बहुत छोटी होगी। क्षेत्र की विशालता से आत्मा की प्रभुता का माप नहीं निकलता। एक समय की पर्याय में अनंत मेरुओं को जान ले, ऐसा उसकी भावप्रभुता का सामर्थ्य है। आत्मा की एक ज्ञानपर्याय एकसाथ समस्त लोकालोक को जान लेती है; तथापि अभी उससे अनंतगुना जान ले इतना सामर्थ्य बाकी रह जाता है। इसलिये लोकालोक की उपमा से एक ज्ञानपर्याय के सामर्थ्य का भी परिपूर्ण माप नहीं निकलता; तब फिर पूर्ण आत्मा के सामर्थ्य की क्या बात की जाये ? आत्मा की एक पर्याय की इतनी मोटी प्रभुता का जिसे विश्वास और आदर हुआ, वह जीव अपनी पर्याय में किसी पर का आश्रय नहीं मानता, राग का आदर नहीं करता, अपूर्णता में उसे उपादेय भाव नहीं रहता; वह तो पूर्ण स्वभाव के आश्रय से परिपूर्ण दशा प्रगट करके ही रहेगा। पूर्ण ध्येय को लक्ष में लिये बिना जो प्रारम्भ होता है, वह सच्चा प्रारम्भ नहीं है; क्योंकि पूर्ण ध्येय जिसके लक्ष में नहीं आया, वह तो अपूर्ण दशा का और विकार का आदर करके वहीं अटक जायेगा, उसे पूर्णता की ओर का प्रयत्न प्रारम्भ नहीं होगा। जिसे आत्मा की प्रभुता का विश्वास आया, उसे पूर्णता के लक्ष से प्रारम्भ हो गया, इसलिये उसके आत्मा में सम्यग्दर्शनरूपी प्रभात हो गया है – अंशतः सुप्रभात हो गया है; अब अल्पकाल में सुप्रभात प्रगट होगा और केवलज्ञानरूपी जगमगाता हुआ सूर्य उदित होगा। आचार्यदेव कहते हैं कि ऐसा सुप्रभात जयवंत वर्तता है। वह सुप्रभात प्रगट होने के पश्चात कभी अस्त नहीं होता।

अहो जीवों! प्रतीति तो करो... अपनी प्रभुता की प्रतीति तो करो... तुम्हारे ज्ञानस्वभाव में तुम्हारी प्रभुता भरी है, उसका विश्वास तो करो! 'मैं एक समय के विकार जितना तुच्छ-पामर नहीं हूँ परन्तु मेरा आत्मा तीनलोक का चैतन्यनाथ है; मैं ही अनन्त शक्तिवान प्रभु हूँ।'—इसप्रकार अपनी प्रभुता का ऐसा दृढ़ विश्वास करो कि पुनः कभी किसी अनुकूल या प्रतिकूल संयोग में सुख या दुःख की कल्पना न हो और अखण्ड प्रतापवंत केवलज्ञान प्राप्त करने में बीच में विघ्न न आये।

अखण्ड प्रतापवाली स्वतंत्रता से शोभायमानपना, वह प्रभुता का लक्षण है। आत्मा में ऐसा अखण्ड प्रताप है कि अनंती प्रतिकूलता के समूह आ जायें, तथापि वह अपनी प्रभुता को नहीं छोड़ता, किसी के आधीन होने का उसका स्वभाव नहीं है; उसे किसी पर का आश्रय नहीं करना पड़ता; किसी के ओजस्व में-प्रभुता में वह चकाचौंध नहीं हो जाता; किसी से भयभीत नहीं

होता;—ऐसी स्वाधीन प्रभुता से आत्मा शोभायमान है। आत्मा के स्वभाव से बड़ा जगत में कोई है ही नहीं, तब फिर उसे किसका भय ? जो जीव कल्पना करके राग से या संयोग से अपनी प्रभुता को खण्डित मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है; उसे यहाँ आचार्यदेव उसकी प्रभुता बतलाते हैं।

आत्मा की प्रभुता आत्मा में है और जड़ की प्रभुता जड़ में है; प्रत्येक परमाणु में उसकी अपनी प्रभुता है। कोई किसी की प्रभुता को खण्डित नहीं करता। अज्ञानी ऐसा कहते हैं कि जगत के जड़-चेतन में सर्वत्र एक प्रभु विद्यमान है;—उनकी बात मिथ्या है। यहाँ तो कहते हैं कि चेतन में और जड़ में—सर्व पदार्थों में अपनी-अपनी स्वतंत्र प्रभुता विद्यमान है। आत्मा की क्रिया आत्मा की प्रभुता से होती है और जड़ की क्रिया जड़ की प्रभुता से होती है। किसी की प्रभुता अन्यत्र नहीं चलती। जिसप्रकार अन्यमती ऐसा मानते हैं कि ईश्वर ने जगत की रचना की है; उसीप्रकार कोई जैनमतवादी भी ऐसा माने कि मैंने परजीव को बचाया; तो वे दोनों जीव प्रभुता की प्रतीतिरहित मिथ्यादृष्टि हैं। अहो! प्रत्येक द्रव्य अपनी-अपनी प्रभुता में स्वतंत्रता से शोभायमान है। यहाँ तो जीव की अपनी प्रभुता की बात है। अपनी प्रभुता से च्युत होकर पर का आश्रय मानने में जीव की शोभा नहीं है; रागादि से जीव की शोभा नहीं है। जीव की शोभा तो अपनी प्रभुत्वशक्ति से है। उस प्रभुता की प्रतीति करना ही धर्म है; प्रभुत्वशक्ति को मानने से अखण्ड आत्मा प्रतीति में आता है; वही धर्मी की दृष्टि में उपादेय है। देखो! यह स्वतंत्रता की घोषणा है, यह स्वतंत्रता का ढंढेरा प्रत्येक आत्मा को प्रभु घोषित करता है।

परमेश्वर कहाँ रहता है ?... प्रभु को कहाँ ढूँढ़ना ?... तो कहते हैं कि तू ही अपना प्रभु है, तेरा तुझ से बाहर अन्यत्र कहीं नहीं है; तेरे आत्मा में ही प्रभुत्वशक्ति है, इसलिए आत्मा स्वयं ही परमेश्वर है। अन्तर्मुखदृष्टि करके उसका विश्वास कर!

जिसप्रकार सूर्य और अंधकार कभी एक नहीं होते, तथा सूर्य और प्रकाश कभी पृथक नहीं होते; उसीप्रकार भगवान चैतन्यसूर्य, रागादि अंधकार के साथ कभी एक नहीं होता और अपने ज्ञान-प्रकाश से वह कभी पृथक् नहीं होता।—ऐसे आत्मा की श्रद्धा करना, वह अपूर्व सम्यग्दर्शन है।

देखो तो! एक-एक शक्ति के वर्णन में आचार्यभगवान ने कितने गंभीर भाव भर दिये हैं। इस एक ही शक्ति में प्रताप... अखण्डता... स्वतंत्रता... शोभा... और प्रभुता—ऐसे पाँच बोल रखकर आत्मा का प्रभुरूप से वर्णन किया है।

समस्त आत्माओं में प्रभुत्वशक्ति एक-सी है। जिसप्रकार गेहूँ का ढ़ेर पड़ा हो, उसमें

प्रत्येक दाना पृथक्-पृथक् है; परन्तु गेहूँ की जाति एक ही है; और उसे पीसकर आटा बनाने से सभी दानों में से गेहूँ का ही आटा होता है; किसी दाने में से जुआर का आटा या धूल नहीं होती। उसीप्रकार विश्व में अनंत आत्माओं का समूह पड़ा है, उसमें प्रत्येक आत्मा पृथक है; प्रत्येक आत्मा में अपनी-अपनी चैतन्यप्रभुता भरी है; उसे पीसकर आटा बनाने से एकसाथ अनंत गुणों की प्रभुता का परिणमन होता है; परन्तु आत्मा की प्रभुता परिणमित होकर उसमें से राग प्रगट हो - ऐसा उसका स्वरूप नहीं है।

अहो! धर्मी जानता है कि मेरी स्वाधीन प्रभुत्वशक्ति अनादि-अनन्त है; मेरी प्रभुता को किसी दूसरे की आवश्यकता नहीं है और कर्म आदि से वह खण्डित नहीं होती; चाहे जैसे रोग-क्षुधा, तृषादि अनंत प्रतिकूलताएँ आएँ, तथापि मेरी प्रभुता का एक अंश भी कोई खण्डित नहीं कर सकता। अधर्मी जीव मानता है कि अरे रे! मैं पामर और पराधीन हूँ; परन्तु उस समय भी उसकी प्रभुता तो उसमें पड़ी ही है; किन्तु उसे उसकी प्रतीति नहीं है, इसलिये उसका निर्मल परिणमन नहीं होता। प्रभुता तो भूलकर एकान्त पामरता का स्वीकार किया, वह एकान्त मिथ्यात्व है। श्री कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कहते हैं कि—''सम्यक्त्वी अपने आत्मा को तृण समान मानता है''—वहाँ तो प्रभुता की प्रतीतिसहित पर्याय के विवेक की बात है। अहो! कहाँ दिव्य केवलज्ञान और कहाँ मेरी अल्पज्ञता!—ऐसा विवेक करके द्रव्य के आश्रय से पूर्ण पर्याय प्रगट करने की भावना भाता है। यदि अकेली पामरता को ही माने और प्रभुता को न पहिचाने तो पामरता को दूर करके प्रभुता कहाँ से लायेगा?

अपने को रागवाला या देहादिवाला मानने से अपनी प्रभुता का अपमान होता है, उसका अज्ञानी को भान नहीं है; और बाह्य में कोई अपमान करे तो ''मेरी नाक कट गई!''—इसप्रकार अपना अपमान मानता है; तथा बाह्य अनुकूलता से अपना बड़प्पन मानता है; वह देहदृष्टि-बहिरात्मा है। अंतरात्मा धर्मी जीव तो ऐसा निःशंक है कि बाह्य में कोई अपमान करे या शरीर को छेद डाले तो भी, मेरी प्रभुता नष्ट करने की शक्ति किसी में नहीं है; मेरे स्वभाव में श्रद्धा का, ज्ञान का, अस्तित्व का, जीवन का, सुखादि अनंत गुणों का प्रभुत्व है; उसकी एक नोक भी खण्डित करने में कोई समर्थ नहीं है।

लो, यह नूतन वर्ष के स्वभाव-अभिनंदन! लोक-व्यवहार में तो 'आपको लक्ष्मी, ऐश्वर्य आदि की प्राप्ति हो!'—ऐसा कहकर अभिनंदन देते हैं; वे सच्चे अभिनंदन नहीं हैं। यहाँ तो ''तेरे

स्वभाव में त्रिकाल प्रभुता है!''—ऐसा कहकर श्री आचार्यदेव प्रभुता के अभिनन्दन देते हैं, आत्मा को उसकी प्रभुता की भेंट कराते हैं।

अखण्ड प्रतापवाली प्रभुता से आत्मा सदैव शोभायमान है; पंचम काल में भी उसकी प्रभुता खण्डित नहीं हुई है। कोई कहे कि—वर्तमान में यहाँ केवलज्ञान और मनःपर्ययज्ञान का तो विच्छेद है न? तो आचार्यदेव कहते हैं कि अरे भाई! आत्मा की स्वभाव-प्रभुता का अंशमात्र भी विच्छेद नहीं हुआ है; उस स्वभाव के सामने पर्याय की मुख्यता करता ही कौन है? साधक तो अपने स्वभाव को मुख्य करके कहता है कि अहो! मेरी प्रभुता ज्यों की त्यों विद्यमान है। आत्मा स्वयं अखण्डित ज्ञान प्रकाश से मण्डित—ऐसा पण्डित है। अखण्डित आत्मा की प्रभुता में जो प्रवीण हो, वही सच्चा पण्डित है। केवलज्ञान और सिद्धपद प्रगट होने की शक्ति आत्मा में सदैव भरी है। केवलज्ञान तो पर्याय है; उसे प्रगट करने की अखण्ड शक्ति आत्मा में विद्यमान है।—ऐसे अखण्डित प्रतापवाले स्वातंत्र्य से शोभित आत्मा की प्रभुता है। आत्मा की प्रभुता में कभी न्यूनता नहीं है; शोभा में कुरूपता नहीं है; अखण्ड प्रताप में खण्ड नहीं है और स्वातंत्र्य में पराधीनता नहीं है।

आत्मा की स्वतंत्रता का प्रताप अखण्डित है; उसे कोई खण्डित नहीं कर सकता। घाति कर्मों से भी आत्मा के प्रताप का घात नहीं होता; पूर्व के अनेक पाप भी वर्तमान पर्याय के प्रताप को खण्डित नहीं करते—ऐसी पर्याय की स्वतंत्र प्रभुता है।

श्री तीर्थंकरदेव कहते हैं कि जैसे हम हैं, वैसा ही तू है। कोई बात समझ में न आये ऐसा तेरे ज्ञानस्वरूप में है ही नहीं; सब कुछ समझने की तेरे ज्ञान की शक्ति है। यदि कुछ समझ में न आये, ऐसा हो तो ज्ञान का प्रताप खण्डित हो जायेगा। इसलिए हे जीव! तू विश्वास कर कि मेरे ज्ञान में केवलज्ञान जितनी परिपूर्ण शक्ति भरी है। तू अपने दोनों के बीच भेद मत डाल! जिसने अपने आत्मा की प्रभुता को भूलकर तीर्थंकर को बड़प्पन दिया, वह अपनी प्रभुता कहाँ से लायेगा?

''दीन भयो प्रभुपद जपे, मुक्ति कहाँ से होय?''

दीन होकर दूसरों की प्रभुता गाता रहे, परन्तु स्वयं अपनी प्रभुता को स्वीकार न करे तो मुक्ति कहाँ से होगी? जैसे सिद्ध हैं, वैसा ही मैं हूँ; सिद्ध में और मुझ में कोई अन्तर नहीं है;—इसप्रकार अपनी परमात्मशक्ति का विश्वास और उल्लास आए बिना मुक्ति होना अशक्य है। यदि लकड़ी को या मुर्दे को धर्म होता हो, तो देह की क्रिया से धर्म हो सकता है! यदि देह की क्रिया

से धर्म होता हो, तब तो सर्वप्रथम देह को ही धर्म और मुक्ति हो! देह तो जड़ है; उसमें चैतन्य का धर्म है ही नहीं, तो उसकी क्रिया द्वारा आत्मा को धर्म का लाभ कहाँ से होगा? ''मूलंनास्ति कुतः शाखा?'' आत्मा स्वयं अनंत धर्म का भण्डार है; उसी की क्रिया से अर्थात् उसके आश्रित परिणमन से ही धर्म होता है।

किन्हीं तीर्थंकर भगवान पर, गुरु पर, या सिद्ध भगवान आदि पर की प्रभुता पर धर्मी की दृष्टि नहीं है; अपनी निर्बल पर्याय पर भी उसकी दृष्टि नहीं है; त्रिकालवर्ती अनंत गुणों से अभेद प्रभुत्वशक्ति के अखण्ड पिण्ड ऐसे अपने आत्मा पर ही धर्मी की दृष्टि है; उसी की महिमा, उसी की रुचि और उसी की मुख्यता है; उसकी मुख्यता का भाव छूटकर कभी किसी अन्य की महिमा नहीं आती। अज्ञानी जीव एक समय के विकार जितना ही सम्पूर्ण आत्मा को मानता है; मुझ में प्रभुता नहीं है किन्तु मैं तो पामर हूँ—ऐसा वह मानता है; इसलिये अपनी प्रभुता को भूलकर पर को प्रभुता देकर वह संसार में भटकता है। आचार्यदेव समझाते हैं कि अहो! आत्मा में त्रिकाल अपनी प्रभुता है; सिद्ध भगवान जितनी ही आत्मा की प्रभुता है, उसमें किंचित्मात्र अंतर नहीं है। हे भाई! जो प्रभुता तू दूसरों को देता है, वह प्रभुता तो तुझ में ही भरी है; इसलिये बाह्य में देखकर सिद्ध की महिमा करने की अपेक्षा अपने अंतर में ही सिद्धत्व की शक्ति भरी है, उसका विश्वास और महिमा कर! तू ही अपना प्रभु है; अन्य कोई तेरा प्रभु नहीं है। आत्मा में अन्तर्मुख होकर प्रतीति कर कि मैं ही अपना प्रभु हूँ; मेरे स्वभाव के अतिरिक्त अन्य किसी की प्रभुता मुझमें नहीं है; मुझमें राग की या अकेली पर्याय की प्रभुता नहीं है। त्रिकाल अखंड स्वभाववाला मेरा आत्मा ही स्वतंत्रता से शोभायमान प्रभु है। देखो, इसका नाम स्वतंत्रता और स्वराज्य है; इसके अतिरिक्त अन्य सब थोथे हैं।

* कोई कहे कि अरे! देश परतन्त्र है... नेता जेलों में पड़े हैं... और कहते हैं कि आत्मा स्वाधीन है... यह कैसे? तो कहते हैं कि अरे भाई! आत्मा को बाह्य पराधीनता है ही कहाँ? आत्मा को अन्य कोई पराधीन नहीं कर सकता। महँगाई से आत्मा पराधीन नहीं होता। चाहे जितनी प्रतिकूलता में भी स्वाधीन शांति को न छोड़े, ऐसा आत्मा का स्वभाव है। राजा भले ही जेल में बन्द कर दें; परन्तु जेल में बैठा-बैठा आत्मा के ध्यान को श्रेणी लगाये तो कौन रोकनेवाला है? स्वभाव का आश्रय करके जो निर्मल प्रभुता प्रगट हुई उसके प्रताप को खण्डित करनेवाला जगत में कोई संयोग है ही नहीं।

* सन् १९४४ में छठवीं बार हुए समयसार-प्रवचनों का यह भाग है।

आत्मा द्रव्यदृष्टि से स्वाधीन है और पर्यायदृष्टि से पराधीन है—ऐसा समयसार नाटक में कहा है; वहाँ ऐसा नहीं कहा कि कर्म, जीव को बलात् पराधीन करता है; परन्तु अज्ञानी जीव अपनी प्रभुता को भूलकर परोन्मुख हुआ, स्वभाव की अधीनता से च्युत हुआ, इसलिये पर्यायदृष्टि में वह पराधीन हुआ है—ऐसा वहाँ कहा है। परन्तु इन शक्तियों के वर्णन में तो ''आत्मा स्वयं अपने आप पराधीन हुआ है'' यह बात भी नहीं है। यहाँ तो साधक की बात है; साधक जीव आत्मा की प्रभुता में पराधीनता को देखता ही नहीं! अपनी प्रभुता की सँभाल करके साधक कहता है कि मेरे शांति-परिणामों को बदलने में तीनकाल-तीनलोक में कोई समर्थ नहीं है; मेरी प्रभुत्वशक्ति स्वाधीन है; जगत का कोई संयोग मेरी प्रभुता को तोड़ने में समर्थ नहीं है। मेरे स्वरूप में पराधीनता नहीं है; संयोग से पराधीनता नहीं है और परिणति, संयोग से च्युत होकर स्वरूप में अभेद हुई, उसमें भी पराधीनता नहीं है।—इसप्रकार साधक को कहीं परधीनता है ही नहीं।

ज्ञानी की दृष्टि आत्मा के त्रिकाली अखण्ड प्रताप पर है; उसमें अपूर्णता का और विकार का निषेध है ही; निषेध करना नहीं पड़ता। आत्मा का प्रत्येक गुण भी अखण्ड प्रताप से शोभित है, और पर्याय भी स्वतंत्र प्रताप से शोभायमान है। इसलिये शास्त्र से ज्ञान होता है, अथवा व्यवहाररत्नत्रय का शुभराग करते-करते निश्चयरत्नत्रय होता है—यह बात ही नहीं रहती। आत्मस्वरूप के द्रव्य-गुण-पर्याय का प्रताप स्वतंत्रता से ही शोभित होता है, परतंत्रता से नहीं। आत्मा की संपदा ऐसी प्रतापवान है कि सिद्ध जैसी संपदा अपने में से प्रगट करती है।

''अपने आत्मा का बड़प्पन मुझे ज्ञात नहीं होता''—ऐसा कहनेवाला रुचि की विपरीतता के कारण अपने बड़प्पन को स्वीकार नहीं करता; वह अज्ञानी अपनी प्रभुता को भूलकर काल-कर्म-निमित्त आदि को प्रभुता देता है और अपने को पामर मानता है। किन्तु भाई! इतना तो विचार कर कि पर को प्रभुता देनेवाला कौन है? पर को प्रभुता देनेवाला स्वयं प्रभुता से रहित नहीं होता। अपनी प्रभुता का आरोप तूने पर में कर दिया है; वास्तव में तो तुझमें ही तेरी प्रभुता विद्यमान है। सिद्ध भगवन्तों को जो प्रभुता प्रगट हुई, वह कहाँ से प्रगट हुई है?—आत्मा में से अथवा कहीं बाहर से? सिद्ध भगवान का जो प्रभुता प्रगट हुई है, वह आत्मा में से ही प्रगट हुई है और ऐसा ही सामर्थ्य तुझमें भी भरा है। ऐसी अपनी प्रभुता की प्रतीति करने से स्वयं प्रभु हो जाता है, और उसका अस्वीकार करके अपने को निर्बल माननेवाला निगोद में जाता है। प्रभुता की प्रतीति में प्रभुता है और निर्बलता की प्रतीति में निगोद है। इसलिये हे भाई! तू ऐसे प्रभुता से परिपूर्ण आत्मा की प्रतीति

कर कि जिसके प्रताप में कभी खण्ड न हो और सिद्धपद की प्राप्ति हो!—ऐसी तेरी प्रभुता का मांगलिकपना है। प्रभुत्वशक्ति और आत्मा त्रिकाल अभेद हैं; उसकी प्रतीति करने से पर्याय में मंगल होता है।

साधक को पर्याय में अल्प राग हो, उस पर दृष्टि नहीं है; उस राग के समय भी स्वभाव के अखण्ड प्रताप पर दृष्टि पड़ी है; स्वभाव की प्रभुता को भूलकर उसकी दृष्टि में कभी राग की मुख्यता नहीं होती; राग के समय भी राग की नहीं किन्तु प्रभुता की ही अधिकता है। प्रभुता की प्रतीति करके उसमें दृष्टि परिणामित हो गई है। ऐसी प्रभुता की दृष्टि के बिना धर्म नहीं होता। आत्मा अपनी प्रभुता से कभी पृथक् नहीं होता। राग तो दूसरे ही क्षण छूट जाता है, इसलिये उसके साथ वास्तव में आत्मा की एकता नहीं है, और पर से तो त्रिकाल भिन्न है ही। इसप्रकार प्रभुता का स्वीकार करते ही राग और पर के साथ की एकत्वबुद्धि का परिणमन छूटकर त्रिकाली स्वरूप में एकतारूप परिणमन होता है, और अपनी प्रभुता का स्वीकार करने से जीव प्रभु होता है।

अहो! भगवान! तू अपनी प्रभुता को बाह्य में कहाँ ढूँढ़ रहा है? तेरी प्रभुता तो तेरे द्रव्य-गुण-पर्याय में है; तेरे असंख्यप्रदेशी तत्त्व में अनंत गुणों की प्रभुता विद्यमान है; उसकी अचिंत्य महिमा को प्रतीति में लेने से संसार की महिमा दूर होकर अंतर्मुखदशा में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट होकर मुक्ति हो जाती है।

''जय हो...आत्मा की प्रभुता की!''

यहाँ सातवीं प्रभुत्वशक्ति का वर्णन पूरा हुआ।

सोनगढ़ में श्री मानस्तंभ जिनबिंब प्रतिष्ठा-उत्सव पर
त्यागी वर्ग की ओर से
आध्यात्मिक-मर्मज्ञ श्री कानजी स्वामी के प्रति

आभार प्रदर्शन

-आपकी यथार्थ और अनुपम तत्त्वप्रतिपादन शैली से हम लोग अधिक प्रभावित हुए।

- यहाँ आकर अनेक जैनसिद्धांत के गूढ़ रहस्यमय तत्त्वों को स्पष्ट रीत से समझा।

- आपके द्वारा दिगम्बर जैनधर्म की जो आशातीत उन्नति हुई और होने की संभावना है, वह जैनधर्म के इतिहास में स्वर्णाक्षरों से अमर लेखनी द्वारा अंकित करनेयोग्य हैं।

- आपका पुनीत जीवन सुव्यवस्थित एवं आध्यात्मिकता से ओतप्रोत है; इस संबंध में अधिक कहना मानो आपकी गुरुता को सीमित करना है।

- हम वह दिन देखने को उत्सुक हैं, जब आप पूर्ण संयमी बनकर हम लोगों के पथप्रदर्शक होंगे।

- आप चिरायु होकर इस स्वर्णपुरी में दिव्य वीरवाणी की अविरलधारा प्रवाहित करते रहें, जिस ज्ञानामृत का पान कर तृष्णार्त्त मानवजगत अनन्त शांति का पात्र हो—ऐसी हम सब की आन्तरिक भावना है।

—आपके समागमेच्छु:

(१) क्षुल्लक पूर्णसागर (२) क्षुल्लक आदिसागर (३) ब्र० चांदमल; अधिष्ठाता पार्श्वनाथ दि० जैन विद्यालय-उदयपुर (४) ब्र० दुलीचन्द, उदासीनाश्रम-इन्दौर, (५) ब्र० राजाराम, सागर (६) ब्र० छोटेलाल, सागर (७) ब्र० गोरेलाल, उदासीनाश्रम-इन्दौर (८) ब्र० जिनदास, उदासीनाश्रम, इन्दौर (९) ब्र० गुणधरलाल, कुरावली, मैनपुरी (१०) फतेहचंद, सहपुरा (११) ब्र० सूर्यपाल, भिण्ड (१२) ब्र० केशवलाल वासना, चौघरी (१३) ब्र० चुन्नीलाल,

सोनासन ईडर (१४) ब्र० कुमेरदास, एटा (१५) ब्र० कपुरचन्द, बडौत (१६) ब्र० रामचरन, रिठोरा (१७) पं० राजकुमार शास्त्री, गया, बिहार।

(यहाँ की समिति ने इस मांगलिक प्रसंग पर आमंत्रित करके जो अपूर्व धर्मलाभ लेने का सुअवसर दिया है, यह उनका वात्सल्यभाव अति प्रशंसनीय है।)

[सोनगढ़ : ता. २६-३-५३]

शुद्धता कैसी होती है ?

आत्मा को शुद्धता कैसी होती है ? —शुद्धात्मा में प्रवृत्ति करे तब।

शुद्धात्मा में प्रवृत्ति कब होती है ? —शुद्धात्मा को जाने तब।

किसी बाह्य क्रिया से या राग में प्रवृत्ति से आत्मा को शुद्धता नहीं होती; परन्तु शुद्धात्मा में प्रवृत्ति से ही आत्मा को शुद्धता होती है। (—प्रवचन से)

''आँखें फाड़कर टुकुर-टुकुर देखता ही रह जाता है!''

[जिज्ञासु शिष्य की पात्रता]

जो जीव अज्ञानी है, जिसने कभी आत्मा के परमार्थ स्वरूप का अनुभव नहीं किया है; परन्तु अब जिसे शुद्ध आत्मस्वरूप समझने की लालसा जागृत हुई है—ऐसे पात्र शिष्य को श्रीगुरु आत्मा का परमार्थ स्वरूप समझाते हैं। उस शिष्य से 'आत्मा' शब्द कहने पर, 'आत्मा' शब्द का जो अर्थ है, उस अर्थ के ज्ञानरहित होने से कुछ भी समझ में न आने से वह मेढ़े की तरह आँखें फाड़कर टुकुर-टुकुर देखता ही रह जाता है... देखो, यहाँ आचार्यदेव जिज्ञासु शिष्य की पात्रता बतलाते हैं। शिष्य अभी आत्मा को नहीं समझा है, किन्तु समझने का कामी है; इसलिये समझाने वाले ज्ञानी की ओर मेढ़े की भाँति टुकुर-टुकुर देखता ही रह जाता है। यहाँ मेढ़े का दृष्टान्त शिष्य की जिज्ञासा बतलाने के लिये दिया है। मेढ़े का दृष्टान्त दोष बतलाने के लिये नहीं किन्तु गुण बतलाने के लिये है। जिसप्रकार मेढ़े में अनुसरण करने की आदत है, उसीप्रकार शिष्य भी सामने समझानेवाले ज्ञानी के भाव का अनुसरण करना चाहता है। स्वयं नहीं समझता, इसलिये अरुचि नहीं लाता, किन्तु समझने की जिज्ञासा से देखता ही रहता है।

''आँखें फाड़कर टुकुर-टुकुर देखता ही रह जाता है''—ऐसा कहने में आचार्यदेव ने अनेक भाव भर दिये हैं। प्रथम तो समझने की जिज्ञासा है, इसलिये चित्त को कहीं उल्टा-सीधा नहीं घुमाता, परन्तु समझने के लिये चित्त को एकाग्र करता है। अपनी समझ में नहीं आता, उसमें कथन करनेवाले का दोष नहीं निकालता, परन्तु समझने के लिये स्वयं ज्ञान की विशेष एकाग्रता करता है। और स्वयं कुछ नहीं समझता, तथापि टुकुर-टुकुर देखता ही रहता है—उसमें उसे इतना तो विश्वास है कि जिसमें मेरा हित हो, ऐसा कुछ यह कहना चाहते हैं; इसलिये ज्ञानी कहते हैं वह बात मुझे समझने जैसी है; इससे समझने के लिये अपने समस्त ज्ञान को आत्मा की ओर एकाग्र

करता है। ''आँखें फाड़कर टुकुर-टुकुर देखता ही रह जाता है''—ऐसा कहा, उसमें बाह्य आँखें तो व्यवहार से हैं; वास्तव में देखने का कार्य तो अंतर के ज्ञानचक्षु करते हैं; अर्थात् ज्ञान का जो क्षयोपशम विकसित हुआ है, उसे अब पराङ्मुख नहीं करता परन्तु उसे आत्मा की ओर एकाग्र करता है। और निमित्तरूप से कहा जाये तो आत्मा का स्वरूप सुनानेवाले ज्ञानी की ओर टुकुर-टुकुर देखता ही रह जाता है—अर्थात् उससे विरुद्ध कथन करनेवाले कुगुरुओं की बात नहीं सुनना चाहता; और बाह्य के विषय-कषायादि में भी चित्त को नहीं घुमाता; बस, मात्र आत्मा की ही समझना चाहता है। ''काम एक आत्मार्थ का, अन्य नहीं मन रोग''—इतनी पात्रता तो श्रोता में हो गई है—ऐसा स्वीकार करके श्री कुंदकुंदाचार्यदेव ने समयसार में शुद्ध आत्मा का स्वरूप समझाया है। ऐसा शिष्य अपने ज्ञान को शुद्धात्मा की ओर एकाग्र करके स्वरूप के सहज आनंद का अनुभव करता ही है।

प्रथम आचार्यदेव ने आत्मा में सिद्धत्व की स्थापना की है कि ''मैं सिद्ध हूँ और तू भी सिद्ध है!'' आत्मा के सिद्धत्व की वह बात सुनते ही जिसे अंतर से उल्लास एवं उत्साह आया, वैसे जीव की आत्मा को समझने की चेष्टा देखकर श्री आचार्य भगवान ने निश्चित किया कि इस जीव को आत्मा समझने की तीव्र आकांक्षा और पात्रता है; इसलिए उसे आत्मा समझाते हैं। और वह जीव भी, ज्ञान के क्षयोपशमरूपी जो आँख खुली है, उसे बन्द नहीं करता, परन्तु उस समस्त ज्ञान को आत्मा की ओर एकाग्र करता है।—ऐसे योग्य आत्मा में धर्म का बीजारोपण होता है, और उस जीव में देशनालब्धि का परिणमन होकर वह आत्मानन्द का अनुभव करता है।

आत्मा का यथार्थ स्वरूप समझे बिना ही मैं अभी तक दुःखों में भटका; आत्मस्वरूप समझने में ही मेरा हित है—ऐसा जिसे अन्तर में भास हो, उसका ज्ञान आत्मोन्मुख हुए बिना नहीं रहता। जिज्ञासु जीव को श्रवण में लापरवाही या निरुत्साहभाव नहीं होता; परन्तु समझने की चिन्ता और उत्साह भाव होता है। अहो! यह ज्ञानी मुझे मेरे हित की बात सुनाते हैं, मेरे अपूर्व कल्याण की बात कहते हैं-इसप्रकार अंतर में अपूर्व उल्लासभाव लाकर पात्र जीव, आत्मस्वरूप को समझ जाता है।

पहले समझ में न आए, तो उससे हताश होकर भागता नहीं है किन्तु समझने के लिये धैर्यपूर्वक खड़ा रहता है और आँखें फाड़कर टुकुर-टुकुर देखता ही रहता है।—ऐसे शिष्य को आचार्यदेव समझाते हैं कि ''हे भाई! अंतर में जो सदैव दर्शन-ज्ञान-चारित्र को प्राप्त है, वह आत्मा

है।'' देखो! राग, वह आत्मा नहीं है; देह की क्रिया करे, वह आत्मा नहीं है, परन्तु सदैव दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप आत्मा है। 'आत्मा' शब्द का ऐसा अर्थ समझाते हैं, तब तुरन्त ही उत्पन्न होनेवाले अत्यन्त आनंद से उस शिष्य के हृदय में सुन्दर ज्ञान-तरंगें उछलने लगती हैं।

इस गाथा में आचार्यदेव ने सम्यग्दर्शन की पाँचों लब्धियों का समावेश किया है—(१) ''आँखें फाड़कर'' टुकुर-टुकुर देखता ही रह जाता है-इसमें **क्षयोपशमलब्धि** आ जाती है; समझने जितना **ज्ञान का विकास** हुआ है। (२) संसार के विषय-कषाय की ओर के भाव छोड़कर, आत्मस्वरूप समझने के लिये टुकुर-टुकुर देख रहा है और स्व की ओर के विचारों में वृद्धि करता है—उसमें कषाय की अत्यन्त मन्दता है, इसलिये **विशुद्धिलब्धि** आ जाती है। (३) 'आत्मा' क्या है उसका स्वरूप उल्लासपूर्वक ज्ञानी पुरुष के पास से सुना, वह **देशनालब्धि** है। (४) समझने के लिये टुकुर-टुकुर देखता ही रह जाता है अर्थात् ज्ञान को अन्तर में एकाग्र करता जाता है, वहाँ **प्रायोग्यलब्धि** हो जाती है। (५) सम्यग्दर्शन होने के समय अंतरपरिणाम में स्वोन्मुख होता हुआ विशुद्धभाव होता है, उस समय **करणलब्धि** हो जाती है। और पश्चात् तुरन्त ही शुद्ध आत्मा का निर्विकल्प अनुभव करता है, वहाँ ज्ञान-आनंद की अपूर्व तरंगें उछलती हैं; अनादिकाल से कभी जिसका अनुभव नहीं किया था—ऐसे अपूर्व आनंद का अनुभव होता है। पूर्वकाल में अनंतबार जीव चार लब्धि तक आकर लौट गया है—ऐसी बात यहाँ नहीं है; यहाँ तो ऐसी अपूर्व बात है कि जिसे देशनादि लब्धियाँ प्राप्त हों, वह आगे बढ़कर निर्विकल्प अनुभव करता ही है। 'आत्मा' ऐसे शब्द के सन्मुख देखकर शिष्य नहीं अटकता, परन्तु उसके वाच्यभूत वस्तु को ग्रहण करके उसका अनुभव करता है। ''जो ज्ञान-दर्शन-चारित्र को निरंतर प्राप्त हो, वह आत्मा है''—ऐसा भेद करके समझाया, परन्तु शिष्य उस भेद पर लक्ष करके नहीं अटकता; किन्तु उस भेदरूप व्यवहार का लक्ष छोड़कर अभेदस्वरूप आत्मा को लक्ष में लेकर उसका अनुभव करता है। बीच में भेदरूप व्यवहार आता अवश्य है, परन्तु उसके अवलम्बन में अटके तो आत्मा का परमार्थ स्वरूप समझ में नहीं आता; इसलिये वह व्यवहारनय आश्रय करने योग्य नहीं है; भेदरूप व्यवहार का आश्रय छोड़कर अभेदस्वभाव के आश्रय से अनुभव करने पर शुद्ध आत्मा का अनुभव होता है।

श्रीगुरु के कथन में भेद आया, परन्तु उनका आशय तो अभेद आत्मा समझाने का था, और शिष्य ने भी भेद का लक्ष छोड़कर अभेद आत्मा को पकड़ लिया; इसलिये गुरु-शिष्य दोनों के अभिप्राय समान हुए। अहो! स्वरूप समझकर अनंत जन्म-मरण को दूर करने का यह अवसर है।

अनंत जन्म-मरण दूर करने के लिये आत्मा की सच्ची समझ के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है। जिसे अनंत जन्म-मरण का भय लगता हो, उसे स्वरूप को समझने में अरुचि नहीं होती किन्तु अपूर्व उत्साह होता है; भगवान आत्मा की कहानी ज्ञानी के पास बारम्बार सुनता है और अंतर से उछल-उछलकर उसी का माहात्म्य गाता रहता है।

''भाई! तेरा आत्मा सदैव परिपूर्ण दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूप ही है''—इसप्रकार ज्ञानी द्वारा अपने आत्मा की अचिंत्य महिमा सुनकर उल्लास से उछल पड़ता है कि अहो! मेरी अनंत ज्ञान-आनन्द की ऋद्धि मेरे ही पास है; मेरे स्वभाव की पूर्णता में से एक अंश भी कम नहीं हुआ है।—इसप्रकार अंतर में स्वभाव का बोध होने से ही हृदय अत्यन्त आनंद से विकसित हो जाता है। आचार्य-भगवान, तुरन्त मोक्ष हो—ऐसी अपूर्व बात कहते हैं; उस सुनते ही सुपात्र जीवों को तुरन्त ही सम्यग्दर्शन हो जाता है। अपूर्व भाव से देशनालब्धि झेलने के पश्चात् तुरन्त निर्विकल्प अनुभव होता है-ऐसी शैली यहाँ ली है; देशनालब्धि झेलने के पश्चात् अनुभव के बीच अन्तर नहीं रखा। जो जीव तैयार होकर, अंतरंग-लालसापूर्वक समझने के लिये आया, वह जीव न समझे—ऐसा नहीं हो सकता; और जो समझे उसे अपने आत्मा में अत्यन्त आनंदमय मनोहर ज्ञान-तरंगें उछलती हैं; उसे स्वयं उनका अनुभव होता।

श्रद्धा का विषय पूर्ण ज्ञायकमूर्ति आत्मा है; उसे लक्ष में लेना, वह परमार्थ है; और दर्शन-ज्ञान-चारित्र के भेद करके आत्मा को लक्ष में लेना, वह व्यवहार है। शरीर मेरा है और उसकी क्रिया मैं कर सकता हूँ-ऐसी मान्यता तो व्यवहार भी नहीं है, वह तो मात्र अज्ञान है। यहाँ तो कहते हैं कि गुण-गुणी के भेदरूप व्यवहार का लक्ष भी छोड़ने जैसा है; भेदरहित परमार्थस्वरूप आत्मा ही सम्यग्दर्शन का विषय है। देखो भाई! यह विषय जीवों ने अनादिकाल से यथार्थतया न तो सुना है और न समझा है। यदि यह समझ लें तो अंतरदशा पलट जाये और अल्पकाल में मुक्ति हो जाये!

[श्री समयसार, गाथा ८ के प्रवचन से]

अतीन्द्रिय ज्ञान

आत्मा ज्ञानस्वभावी है; उस ज्ञान की पूर्ण दशा हो, वही आदरणीय है। ज्ञान का स्वभाव पर के अवलम्बन से जानने का नहीं है परन्तु स्वयं अपने से ही जानने का उसका स्वभाव है। ज्ञान की जो अवस्था, स्वभाव का अवलम्बन छोड़कर जड़ इन्द्रियों के अवलम्बन से कार्य करे, उसे 'इन्द्रिय-ज्ञान' कहते हैं; उसके साथ राग की उत्पत्ति होती है। जो ज्ञान आत्मस्वभाव के अवलम्बन से कार्य करे, वह ज्ञान 'अतीन्द्रिय' है। अतीन्द्रियज्ञान में राग की उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि उसमें किसी परद्रव्य का अवलम्बन नहीं है। ऐसा अतीन्द्रियज्ञान, वह मेरा स्वरूप है और वही उपादेय है—ऐसी प्रतीति करना, वह धर्म का प्रारम्भ है।

ज्ञानस्वभाव स्व है और इन्द्रियाँ पर हैं; इसलिये हे जीव! इन्द्रियजन्य ज्ञान को अपना स्वरूप मत मान। अपने ज्ञान को आत्म-स्वभावसन्मुख करके आत्मजन्य-अतीन्द्रियज्ञान प्रगट कर! इन्द्रियजन्य ज्ञान से यथार्थ वस्तुस्वरूप दृष्टिगोचर नहीं होता; अतीन्द्रियज्ञान से ही यथार्थ वस्तुस्वरूप दृष्टिगोचर होता है; और यथार्थ वस्तुस्वरूप देखे बिना ज्ञान सम्यक् नहीं होता; इसलिये यदि तुझे अपने ज्ञान को सम्यक् बनाना हो तो तू जड़ इन्द्रियों का अवलम्बन छोड़कर आत्मस्वभाव के ही अवलम्बन से अतीन्द्रियज्ञान प्रगट कर!

इन्द्रियाँ, आत्मा से परद्रव्य हैं; उन इन्द्रियों की ओर ढले हुए ज्ञान के आश्रय से धर्म नहीं होता। इन्द्रियाँ मूर्त हैं और उनके अवलम्बन से होनेवाला ज्ञान, मूर्त पदार्थों को ही देखता है; इसलिये उस ज्ञान को भी मूर्त कहा जाता है; वह ज्ञान, अतीन्द्रिय चैतन्यस्वभाव को नहीं देखता। वह ज्ञान पराश्रित और रागयुक्त है, इसलिये वह आदरणीय नहीं है; उससे धर्म नहीं होता। आत्मा ज्ञानानंदस्वरूप है; उसके अवलम्बन से जो ज्ञान होता है, वह अतीन्द्रियज्ञान, रागरहित है; वह आदरणीय है, उससे धर्म होता है।

''अहो! मेरा अतीन्द्रिय ज्ञानस्वभाव ही मुझे उपादेय है''—इस प्रकार अपने अतीन्द्रिय ज्ञान को ही उपादेय माननेवाले धर्मी जीव की दृष्टि, पर तथा राग की ओर से हटकर स्वभावोन्मुख हो जाती है; वह जीव, पर के कर्तृत्व का अहंकार तो नहीं करता किन्तु राग का भी कर्ता नहीं होता;

क्योंकि अतीन्द्रियज्ञान की उन्मुखता पर की ओर नहीं होती। साधकदशा में स्वभाव के आश्रय से अंशत: अतीन्द्रियज्ञान हुआ है; वहाँ अस्थिरता के कारण इन्द्रियों की ओर वृत्ति जाती है और राग होता है; किन्तु उसे साधक जीव आदरणीय नहीं मानते। चैतन्यस्वभाव की दृष्टि करके उसके आश्रय से जो अतीन्द्रियज्ञान विकसित होता है, वही आदरणीय है। पर्याय के और पर के आश्रय से जो ज्ञान होता है, उतना ही अपना स्वरूप माने तो वह पर्यायमूढ़ है; वह जीव अपने ज्ञान को अन्तर्स्वभावोन्मुख करके उसकी प्रतीति नहीं करता। ज्ञान तो आत्मा का है; आत्मा के त्रिकाली चैतन्यस्वभाव के आश्रय से ज्ञानपर्याय प्रगट होती है; उस स्वभाव की श्रद्धा करके उसका आश्रय करना, वह धर्म है। ऐसे स्वभाव की श्रद्धा और ज्ञान करना, वह धर्म की प्रथम भूमिका है।

अज्ञानी को ऐसा लगता है कि मेरा ज्ञान, इन्द्रियों से होता है। परन्तु ज्ञानी कहते हैं कि अरे भाई! तू चैतन्य और इन्द्रियाँ जड़; तू अमूर्तिक और इन्द्रियाँ मूर्त—तब फिर तेरा ज्ञान इन्द्रियों से कैसे प्रगट हो सकता है? और आत्मा, इन्द्रियों द्वारा भी नहीं जानता, क्योंकि इन्द्रियों में कहीं ऐसे छिद्र नहीं हैं कि आत्मा उनमें से देखे! इन्द्रियों से मेरा ज्ञान होता है—ऐसा मानता है, उसे आत्मा के ज्ञानस्वभाव की प्रतीति नहीं है, किन्तु उसे जड़ इन्द्रियों के साथ एकत्वबुद्धि है। उस एकत्वबुद्धि का अज्ञान छुड़ाने के लिये आचार्यदेव कहते हैं कि हे जीव! आत्मा स्वयं ज्ञानस्वभावी है; उसके ज्ञान को किसी भी परद्रव्य का अवलम्बन नहीं है; पर के अवलम्बन बिना अपने स्वभाव से ही जानने का उसका स्वभाव है।—ऐसे ज्ञानस्वभाव का विश्वास करके उसी का आदर कर! ऐसा करने से उस स्वभाव के आश्रय से अतीन्द्रिय केवलज्ञानदशा प्रगट हो जायेगी। [प्रवचन से]

श्री सनातन जैन शिक्षण-वर्ग

[गतांक से पूर्ण]

प्रश्न : ५ (अ) अभाव के प्रकार और उनकी व्याख्या लिखो!

(ब) निम्नोक्त वाक्यों में रेखांकित शब्दों के बीच कौन-सा अभाव है, वह कारणसहित लिखो :—

(१) जीव की इच्छा से मुख में से वाणी निकली।

(२) स्वर्णकार ने हथौड़ी से कुण्डल बनाया।

(३) आहार वर्गणा में से आहारक शरीर हुआ।

(४) कर्म आत्मा को संसार-परिभ्रमण कराते हैं।

(५) वर्तमान में विराजमान सीमंधर परमात्मा भविष्य में सिद्ध होनेवाले हैं।

(६) "द्रव्य संग्रह" पढ़ने से मुझे ज्ञान हुआ।

(७) एक गृहस्थ ने धन खर्च किया, इसलिये उसे धर्म हुआ।

[नोट :—यहाँ लिखे हुए वाक्य मात्र 'अभाव' के प्रकारों को ढूँढ़ने के लिये दिये गये हैं; उन वाक्यों के अनुसार सिद्धान्त है-ऐसा नहीं समझना।]

उत्तर : ५ (अ) 'अभाव' के चार प्रकार हैं—(१) प्राक्अभाव (२) प्रध्वंसअभाव (३) अन्योन्यअभाव और (४) अत्यन्तअभाव।

(१) प्राक् अभाव=एक द्रव्य की वर्तमान पर्याय का उसकी पूर्व पर्याय में अभाव।

(२) प्रध्वंस अभाव=एक द्रव्य की वर्तमान पर्याय का उसकी भविष्य की पर्याय में अभाव।

(३) अन्योन्य अभाव=एक पुद्गलद्रव्य की वर्तमान पर्याय का दूसरे पुद्गलद्रव्य की वर्तमान पर्याय में अभाव।

(४) अत्यंत अभाव=एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में अभाव।

(ब) (१) 'इच्छा' और 'मुख' के बीच अत्यंत अभाव है; क्योंकि इच्छा जीव की पर्याय है और मुख पुद्गल की पर्याय है। 'मुख' और 'वाणी' के बीच अन्योन्य अभाव है; क्योंकि वे दोनों पुद्गलद्रवय की वर्तमान पर्यायें हैं।

'वाणी' और 'इच्छा' के बीच अत्यन्त अभाव है; क्योंकि वाणी पुद्गलद्रव्य की पर्याय है, इच्छा जीव की पर्याय है।

(२) 'हथौड़ी' और 'कुण्डल' के बीच अन्योन्य अभाव है; क्योंकि वे दोनों पुद्गलद्रव्य की वर्तमान पर्यायें हैं।

(३) 'आहारकशरीर' का 'आहारवर्गणा' में प्राक् अभाव है; क्योंकि वे दोनों एक ही पुद्गलद्रव्य की अवस्थाएँ हैं। उनमें आहारकशरीर वह वर्तमान अवस्था है और आहारवर्गणा भूतकाल की अवस्था है।

(४) 'कर्म' और 'आत्मा' के बीच अत्यंत अभाव है; क्योंकि कर्म पुद्गलद्रव्य की पर्याय है। जीव और पुद्गल दोनों भिन्न-भिन्न द्रव्य हैं।

(५) 'सीमंधर परमात्मा' और उनकी भावी 'सिद्धदशा' के बीच प्रध्वंस अभाव है; क्योंकि सीमंधर परमात्मा वर्तमान अरिहंत अवस्था है और सिद्धत्व उनकी भविष्य की पर्याय हैं।

(६) 'द्रव्यसंग्रह' पुस्तक और 'ज्ञान' के बीच अत्यंत अभाव है; क्योंकि द्रव्यसंग्रह पुद्गल की पर्याय है और ज्ञान जीवद्रव्य की पर्याय है।

(७) 'धन' और 'धर्म' के बीच अत्यंत अभाव है, क्योंकि धन तो पुद्गलद्रव्य की अवस्था है और धर्म जीवद्रव्य की अवस्था है।

प्रश्न ६ : (अ) निम्नोक्त पदार्थों में से द्रव्य-गुण-पर्याय की पहिचान करो—

(१) केवलदर्शन, (२) परमार्थकाल, (३) स्थितिहेतुत्व, (४) अपनी दृष्टि के समक्ष फैला है वह आकाश, (५) उष्णता, (६) नय, (७) अंतर्मुहूर्त।

उपरोक्त पदार्थों में से जो 'द्रव्य' हो, उसका विशेष गुण लिखो; जो 'गुण' हो, वह किस द्रव्य का और किस जाति का (सामान्य या विशेष) गुण है, वह लिखो; और जो पर्याय हो, वह किस द्रव्य की और किस गुण की, कैसी (विकारी या अविकारी) पर्याय है वह बतलाओ।

(ब) निम्नोक्त गुण अनुजीवी हैं या प्रतिजीवी ? और वे किस द्रव्य के हैं, वह लिखो।

(१) अरूपीपना (२) अवगाहनहेतुत्व, (३) सूक्ष्मत्व, (४) अभव्यत्व,(५) अचेतनत्व, (६) प्रदेशत्व।

उत्तर : ६ (अ) (१) केवलदर्शन, जीवद्रव्य के दर्शनगुण की, अविकारी पूर्ण पर्याय हैं।

(२) परमार्थकाल द्रव्य है और परिणामहेतुत्व उसका विशेष गुण है।

(३) स्थितिहेतुत्व अधर्मद्रव्य का विशेष गुण है।

(४) दृष्टि के समक्ष दिखाई देनेवाला आकाश, आकाश नहीं है–पुद्गलद्रव्य के वर्णगुण की विकारी पर्याय है।

(५) उष्णता पुद्गलद्रव्य के स्पर्शगुण की विकारी पर्याय है।

(६) नय, जीवद्रव्य के ज्ञानगुण की (श्रुतज्ञान के अंशरूप) अविकारी पर्याय है।

(७) अंतर्मुहूर्त कालद्रव्य की अविकारी पर्याय है।

(ब) (१) अरूपीपना पुद्गल के अतिरिक्त पाँचों द्रव्यों का (जीव, अजीव धर्म, अधर्म, आकाश और काल का) प्रतिजीवी गुण हैं।

(२) अवगाहनहेतुत्व आकाशद्रव्य का अनुजीवी गुण है।

(३) सूक्ष्मत्व जीवद्रव्य का प्रतिजीवी गुण है।

(४) अभव्यत्व जीवद्रव्य का अनुजीवी गुण है। (यह गुण अभव्य जीवों में ही होते हैं) भव्य जीवों में 'भव्यत्व' नाम का गुण होता है।

(५) अचेतनत्व जीव के अतिरिक्त पाँचों द्रव्यों का (—पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल का) प्रतिजीवी गुण है।

(६) प्रदेशत्व छहों द्रव्यों का अनुजीवी गुण है।

उत्तम और मध्यम श्रेणी में विशेष नम्बर प्राप्त करनेवाले विद्यार्थियों के नाम :—

उत्तम श्रेणी :

(१) नरेशचंद्र मगनलाल मेहता, सूरत : नम्बर ९५

(२) रमेशचंद्र मगनलाल मेहता, सूरत : नम्बर ९१

(३) जगदीशचंद्र नवलचंद्र शाह, बम्बई : नम्बर ८९

(४) रसिकलाल धरमशी मणियार, वढ़वाण : नम्बर ८६

मध्यम श्रेणी :

(१) हरीन्द्र जसराज, अहमदाबाद : नम्बर ७८

(२) दुर्लभराय चुन्नीलाल, कलोल : नम्बर ७७

(३) रजनीकान्त जसराज, अहमदाबाद : नम्बर ७६

समयसार अर्धमूल्य में.....

समयसार मूल और उसका हिन्दी पद्यानुवाद, आत्मख्याति संस्कृत टीका एवं कलश तथा उसकी गुजराती टीका के हिन्दी अनुवाद सहित श्री पाटनी दि० जैन ग्रन्थमाला मारोठ (मारवाड़) द्वारा मोटे कागज, कपड़े की आकर्षित जिल्द, सुन्दर छपाई व संपादन तथा रंगीन चित्रों सहित ६४८ पेज में प्रकाशित हो गया है। ग्रन्थ का मूल १०) है लेकिन ७.००) में दिया जायेगा।

श्री जिन-मंदिरों के लिये २०० प्रतियाँ सेठ दीपचंदजी सेठिया सरदारशहर वालों की ओर से ५.००) में दी जायेंगी। स्वाध्यायप्रेमी अवश्य मंगाकर लाभ उठावें!

— मिलने का पता —

श्री पाटनी दि० जैन ग्रन्थमाला,
मारोठ (मारवाड़)

श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

परम पूज्य सद्गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक प्रवचनों का
अपूर्व लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों की—

अवश्य स्वाध्याय करें

समयसार प्रवचन भाग १	६)	भजनमाला	
समयसार प्रवचन भाग २	५)	(अजमेर भजन-मण्डली की)	
समयसार प्रवचन भाग ३	४)	मूल में भूल	
प्रवचनसार हिंदी		मुक्ति का मार्ग	
(मूल संस्कृत टीका सहित)	५)	अनुभवप्रकाश	
आत्मावलोकन	१)	अष्टपाहुड़	३)
मोक्षमार्ग-प्रकाशक की किरणें	१)	चिद्विलास	१)
द्वादशानुप्रेक्षा	२)	दसलक्षणधर्म	)
अध्यात्मपाठसंग्रह	५)	जैन बालपोथी	)
समयसार पद्यानुवाद	)	सम्यक्दर्शन	२)
निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	)	स्तोत्रत्रयी	)
'आत्मधर्म मासिक' वार्षिक मूल्य	३)	भेदविज्ञानसार	२)
आत्मधर्म फाइलें १-२-३-५-६-७ वर्ष	प्रत्येक का ३)	पंचमेरु पूजन	)

(डाकव्यय अतिरिक्त)

मिलने का पता—
श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

: मुद्रक-प्रकाशक :
श्री जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट सोनगढ़ के लिये
जमनादास माणेकचंद रवाणी, अनेकान्त मुद्रणालय, मोटा आंकड़िया